Chap-4

चतुर्थ अध्याय

तकनीकी दृष्टि से रंगमंच का अध्ययन

क. निर्देशन ।

ख. समूह संरचना ।

ग. मंच विधान ।

घ. वेश विन्यास ।

च. रूपसज्जा ।

छ. मुखोटों का प्रयोग ।

ज. अभिनय ।

तकनीकी दृष्टि से रंगमंच का अध्ययन

हिन्दी साहित्य में नाट्य विधा का विकास मंदगति से हुआ है तथापि हिन्दी नाट्य लेखन की कमी का होना हिन्दी नाट्य साहित्य की रूग्ण निर्देशन क्षमता को प्रदर्शित करता है। परिस्थिति इतनी बुरी भी नहीं है कि हम दूसरी भाषाओं के नाटकों पर निर्भर रहें। आज इन नाट्य निर्देशकों में आत्मविश्वास की कमी तो है ही साथ ही वे परिश्रम से भी बचना चाहते हैं। यही वजह है कि वे दूसरी भाषाओं के सफलतम नाटकों का सहारा लेते हैं।

निर्देशन :

निर्देशक अपने कलाबोध, सौन्दर्यबोध और जीवनबोध के कारण ही सम्पूर्ण नाटक की प्रस्तुति को सफल बना पाता है। वह निर्देशक ही होता है जो नाट्य प्रस्तुति में विविध तत्वों को पिरोने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। लगभग सभी नियमित रूप से नाट्य खेलनेवाली संस्थाओं के पास अपने-अपने निर्देशक होते हैं। जो नाटक चुनने से लेकर नाटक खेलने तक का सारा महत्वपूर्ण कार्य सम्भालते हैं।

निर्देशक नाटक के विभिन्न उपकरणों को संयोजित करता है। तथा प्रदर्शन से पूर्व अभिनेताओं को प्रशिक्षित करना, पूर्वाभ्यास कराना, आन्तरिक रूप से अभिनेता को तैयार करना, उनमें सामंजस्य बैठाने का कार्य भी प्रमुख रूप से उसी का है। रंगमंच की अवधारणा, नाट्य की चयन प्रक्रिया व रंगशिल्प को जमाने की जिम्मेदारी भी सर्वाधिक निर्देशक की ही होती है।

निर्देशक का दायित्व हमेशा बढ़ जाता है क्योंकि उसे नाटक लिखने वाले लेखक (नाटककार) तथा दर्शकों के साथ जुड़ा रहना पड़ता है। अभिनेता, रूप सज्जाकार, वेशभूषाकार, दृश्यांकनकार, संगीतकार, प्रकाश संयोजक तथा मंच के पीछे रहकर काम करने वाले, सभी को एकत्रित करना, उनमें संतुलन बनाये रखना

और उनसे कार्य करवाने तथा उन्हें दृष्टि देने के लिये निर्देशक को अत्यधिक मेहनत की जरूरत होती है। रंगमंच पर नाट्य एक सामूहिक कला है। जिसमें निर्देशक ही वह माध्यम है जो प्रस्तुति के द्वारा सृजनात्मक अनुभूति को दर्शकों तक पहुँचाता है तथा रंगकर्मियों के साथ उसे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना होता है। आज का निर्देशक एक सम्पूर्ण कलाकार होता है। निर्देशक का कार्य बहुत महत्वपूर्ण होता है। वह पूरे नाटक का संचालक होता ही है साथ ही नाटक की सफलता या असफलता निर्देशक की सूझ-बूझ पर ही निर्भर करती है। एक कुशल निर्देशक किसी भी नाटक को मंचित कर सकता है। इसके लिये उसे कुछ निम्न बातों को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। जैसे सर्वप्रथम उसे नाटक का चयन करना होता है जो दर्शकों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और उसे एक अच्छे स्तर पर नाटक दे सके। शौकिया तौर पर नाटक खेलनेवाले अधकचरे ज्ञान से नाटक तैयार करने वाले निर्देशकों का निर्देशन सम्पूर्ण नाटक की प्रस्तुति में बहुत अखरता है।

सफल निर्देशक रंगमंच को ध्यान में रखकर ही नाटक चयन करता है। नाट्य चयन करते समय अभिनेयिता, नायक का अपना व्यक्तित्व, दर्शकों को चुनौती देने वाले नाटक, भावों आदि का ध्यान निर्देशक को रखना होता है। मंचन से पूर्व निर्देशकों के मन में उठने वाले प्रश्नों को खोज निकालना आवश्यक हो जाता है जैसे -

1. उनके पास नाटक के अनुसार अभिनेता हैं कि नहीं?
2. रंगमंच पर इसकी प्रस्तुति हो सकती है कि नहीं?
3. पात्रों को अनुरूप अभिनेताओं का चयन हुआ कि नहीं?
4. दर्शकों को आकर्षित करनेवाला नाटक है या नहीं?
5. मंचन की उपयुक्त जगह व सुविधाएँ उपलब्ध हैं या नहीं?

नाट्य संकल्पना :

निर्देशक नाटक के चयन के पश्चात नाटक की संकल्पना भी करता है

क्योंकि इसके अन्तर्गत उसे नाट्य प्रस्तुति के सभी अंग एवं प्रस्तुति के रूप के निर्धारण करना होता है। इसके अलावा दृश्यों का नियोजन करना, आलेख विश्लेषित कर उसकी प्रस्तुति लिपि तैयार करना, नाटक को किस शैली में प्रस्तुत करना है, संवाद और उसकी भाषा के अभिनय पक्ष को नियोजित करना, ध्वनि, संगीत, नृत्य और वेशभूषा आदि की परिकल्पना करना नाट्य संकल्पना के ही प्रकार हैं।

नाट्य आलेख विश्लेषण :

निर्देशक के सामने सम्पूर्ण नाटक होता है वह उसका विश्लेषण करता है तथा उसे ध्यान से पढ़ता है। उसमें वह देखता है कि नाटक की कथा सरल है या जटिल, वह कौन सी घटना को लेकर चलता है। इसके प्रमुख पात्र उस घटना से किस प्रकार संबद्ध हैं? उसकी मनोदशा, उसका द्वन्द्व और संघर्ष, उसका उद्देश्य तथा उसका अन्य पात्रों से सम्बन्ध नाट्य आलेख से जुड़ा रहता है।

सबसे जरुरी है नाटक का परिवेश और नाटक का काल या समय व स्थान विशेष। नाटक के कथानक की गति और दृश्य बन्ध का भी अध्ययन इसके अन्तर्गत ही होता है। इसकी जटिलता एवं सरलता की दृष्टि से विचार कर निर्देशक नाटक की चरमसीमा (Climex) का निर्धारण करता है। प्रत्येक अंश में Minor Crisis और Major Crisis को स्थिर रखकर वह विश्लेषण को और सरल बना लेता है। एक नाट्य आलेख विश्लेषण के लिये यह दृष्टि होना आवश्यक हो जाता है जैसे -

"1. नाटक के रुपबन्ध का ज्ञान।

2. नाटक की केन्द्रीय घटना और अन्य घटनाओं की पारस्परिकता।

3. कथा में संगठन, प्रारंभ, चरम सीमा एवं निर्मिती की स्पष्टता।

4. प्रत्येक अंक में Minor Crisis और Major Crisis का स्पष्ट रूप।

5. संवादों की पात्रों से पारस्परिकता एवं घटनाओं की प्रस्तुति।

6. नाटक लेखक का प्रमुख उद्देश्य

7. नाटक के काल एवं उस काल की सभ्यता एवं संस्कृति की जानकारी।

8. निर्देशक का उद्देश्य।"[1]

नाट्य अवधारणायें :

नाट्य आलेख के विश्लेषण से निर्देशक नाटक को अपनी समझ के अनुरूप ग्रहण कर उसका स्वरूप अपने मन में निर्धारित करता है। नाटक की प्रस्तुति में वह जिन महत्पवूर्ण बिन्दुओं की स्थापना करता है, उसके आधार पर ही वह एक प्रकार से नाटक की पुनर्रचना करता है। नाटक की अवधारणा का आधार निर्देशक की सूझबूझ परिकल्पना तथा धारणायें होती हैं। वह निम्न बातों का ध्यान रखता है।

"1. पात्र विशेष के आधार पर।

2. वैयक्तिक संघर्ष और द्वन्द्व के आधार पर।

3. वर्ग विशेष और उसकी समस्याओं को केन्द्र में रखकर।

4. नाटक में निहित किसी समस्या विशेष के आधार पर।

5. किसी वाद विशेष के आधार पर।

6. मनोरंजन के आधार पर।"2

शैली निरुपण :

भरत के नाट्यशास्त्र में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी शैली का उल्लेख है। ये दोनों लोकशैली और शास्त्रीय शैली है। नाट्य अवधारणा के समय निर्देशक को इसका ज्ञान होना भी आवश्यक हो जाता है एवं वह प्रमुख शैलियों को केन्द्र में रखता है।

"1. यथार्थवादी शैली।

2. नग्न यथार्थवादी शैली।

3. शास्त्रीय शैली।

4. लोक शैली

5. विदेशी शैली।

6. मिश्र शैली।"[3]

निर्देशक के लिये आवश्यक है कि उसे इन शैलियों का परिचय ठीक-ठीक ढंग से हो। इसके आधार पर ही वह अपनी सूझ-बूझ तथा कल्पना के आधार पर नयी शैली का निर्माण कर सकता है या इन शैलियों का नये ढंग से प्रयोग भी कर सकता है।

अभिनय निर्देश :

अभिनय निर्देश की जरूरत नाट्य पाठ और पात्र चयन के पूर्व होती है। निर्देशक जब शैली का निर्धारण कर लेता है तब उसके लिये पात्र चयन का प्रश्न उठ खड़ा होता है। नाट्य वाचन के दौरान वह नाट्य अनुवचन से यह बात स्पष्ट कर लेता है कि उपलब्ध अभिनेता की आवाज किस प्रकार की है। वह जब पात्रों को अपने-अपने रोल दे देता है तो इसके लिये वह पूर्वाभ्यास के दौरान ही अभिनय निर्देश का प्रयोग करता है।

पूर्वाभ्यास का प्रतिसप्ताह विभाजन कर दिया जाता है। इस प्रकार एक निश्चित समय सीमा में पूर्वाभ्यास पूर्ण कर लिया जाता है। इसी दौरान निर्देशक अपनी एक पुस्तिका भी तैयार कर लेता है। जिसमें समूह के रेखाचित्र, गति, अभिटन के संकेत तथा दृश्य विधान का ब्यौरा अंकित करता है। मंच सामग्री तथा वेशभूषा तथा मंच व्यवस्था का कार्य वह अलग-अलग अभिनेताओं को दे सकता है, जिससे उसका उत्तरदायित्व कम हो जाय और वह अपने नाट्य की सफल प्रस्तुति की ओर ध्यान दे सके।

अभिनय के सभी अंगों पर उसका ध्यान केन्द्रित रहता है चाहे वह आंगिक अभिनय हो या वाचिक अभिनय हो अथवा आहार्य कोई भी हो, अभिनेता से वह अभिनय करवा लेने की क्षमता रखता है।

ध्वनि एवं प्रकाश योजना :

पूर्वाभ्यास के दौरान अभ्यार्थियों को ध्वनि एवं प्रकाश योजना का ज्ञान हो जाना चाहिये। ध्वनि के माध्यम से वाचिक अभिनय में उतार-चढ़ाव, मौन, संकेत ध्वनियों, नेपथ्य से आने वाली ध्वनियों, सामूहिक ध्वनि आदि का परीक्षण एवं निरीक्षण दोनों तरह से करना चाहिये।

प्रकाश योजना नाटक के प्रस्तुतिकरण में सहायक होती है।इसका प्रयोग आधुनिक संवेदनाओं, वातावरण की निर्मिती के लिये तथा दृश्यों एवं मनोभावों के केन्द्रीय मूल रूप में दिखाने के लिये शक्तिशाली माध्यम है इसके लिये आधुनिक तकनीकी ढंग से तैयार हुए विकसित प्रकाश यन्त्र उपलब्ध हैं। इन यन्त्रों का उपयोग एवं प्रयोग सूझबूझ से करना चाहिये। कई बार प्रकाश योजना के दोषपूर्ण होने के कारण नाटक के भावों और उसके अर्थ पर प्रभाव पड़ सकता है।

समूह संरचना :

समूह संरचना का नाटक में महत्व बढ़ जाता है, क्योंकि जब मंच पर किसी नाटक को प्रदर्शित करना होता है तो उसका दृश्य विधान व उसकी परिकल्पना आवश्यक होती है। रंगमंच पर किसी भी समय पात्रों का आवागमन चलता रहता है। कभी एक, कभी दो, कभी पूरा समूह का समूह रंगमंच पर आ जाता है। इन सभी पात्रों की आवाज, वार्तालाप और भाव-विभाव आदि को एकसाथ दर्शाने के लिये उसके समूहों का सरलीकरण करना भी आवश्यक होता है।

समय-समय पर निर्देशक रंगमंच पर कब किस पात्र को आना है, कहाँ खड़े रहना है और कहाँ से जाना है, अभिनेता को सरल रेखा, तिरछी रेखा, गोलाकार रेखा, आदि के माध्यम से बताता है। अभिनेता और समूह वर्ग इसको समझ लेते हैं। नाट्य मंचन के दौरान इन्हीं संरचनाओं को याद कर एक सीमा रेखा के अन्दर मंचन करते हैं। जिससे एक अभिनेता को दूसरे अभिनेता से संपर्क रखने में कोई बाधा

उत्पन्न नहीं होती है। यह सब चित्र या बिम्ब भाव के अनुरूप होता है।

निर्देशक की यही संरचना दर्शकों के ध्यान को आकृष्ट करती है। समूह संरचना रंगमंच पर जितनी सरल एवं अर्थवान होगी उतनी ही वह प्रभावशाली रहेगी। इसलिये भी नाटक का सारा दारोमदार इसी संरचना के ऊपर निर्भर करता है। एक ही संरचना को बार-बार प्रदर्शित किया जाय तो उसका प्रभाव कम पड़ जाता है। इसलिये नाट्य निर्देशक अलग-अलग दृश्यों के लिये अलग-अलग संरचनायें बनाता है। हर पात्र का प्रवेश और जाने के मार्ग को तटस्थ रूप में प्रस्तुत करता है। ये संरचनाएँ गतिशील भी होती हैं और स्थिर भी। इनको आकृति के आधार पर बाँटकर सरल एवं जटिल बनाया जाता है।

आकृति के आधार पर रंगमंच पर जिस (Composition) समूह संरचना को उपयोग में लाया जाता है वह Geometry (ज्यॉमेट्री) की तरह त्रिभुज, चतुर्भुज, पंचभुज, षट्कोण अथवा वर्तुल होते हैं।

मान लीजिये कि रंगमंच पर एक कुर्सी रखी हुई है, और उस पर आकर एक मुख्य पात्र को आकर बैठना है, तथा मंच पर उपस्थित दो पात्रों के साथ बातचीत करनी है। ऐसे समय जो स्थिति निर्मित होगी उसमें कुर्सी को मध्यभाग में रखा जायेगा, और कुछ दूरी पर दो पात्रों को खड़ा किया जायेगा। पात्रों का आंगिक अभिनय ही उन्हें मौलिकता और ताजगी प्रदान करता है।

अगर कुर्सी पर बैठा मुख्य पात्र व अन्य दोनों पात्र शराब पी रहे हैं, बीच में एक टेबल है, तीनों आपस में बातचीत भी कर रहे हैं। हाथ-पैर हिला रहे हैं, पर थोड़ी देर बात वे तीनों एक वृत्ताकार संरचना में नाचने लगते हैं और घूमने भी लगते हैं। कोई आगे की ओर जाता है तो कोई पीछे की ओर। फिर बाद में सभी उसी स्थान पर आकर अपना कार्य उसी क्रम में प्रारंभ कर देते हैं। रंगमंच पर संरचनायें बनती हैं व

बिगड़ती हैं। ये संरचनायें गतिशील होती हैं। उदाहरण के लिये समूह दृश्यों को इस तरह दर्शाना हो तो निर्देशक दृश्य बनाने के लिये बाजार, वधस्थल, दरबार आदि को इस संरचना (गतिशील) में बना सकता है। अपनी कल्पना के द्वारा वह सभी प्रकार की संरचनाओं का उपयोग यथास्थान करता है। कई बार अक्षरों की बनावट के आधार पर भी संरचना हो जाती है। अंग्रेजी अक्षर A अथवा L अथवा U के आकारों की संरचना को कई बार रंगमंच पर निर्देशक निर्मित करता है। इसका उद्देश्य तो सिर्फ यही होता है कि संरचना के माध्यम से निर्देशक अपनी एक छोटी सी कहानी को दर्शकों के सामने रख दे। यह अपने आप में एक पूर्ण इकाई है।

नाटक कई कलाओं का विशिष्ट समुच्चय है, इसलिये संरचना में मुक्तता होते हुए भी सौन्दर्यबन्धन होता है। यह बन्धन तिहरा होता है। एक वह भाव से जुड़ा होता है, दो वह पात्रों से जुड़ा होता है तथा तीन कथानक से। इन तीनों सन्दर्भों का प्रभावशाली ढंग से निर्वाह करने वाली आकर्षक संरचना ही सफल संरचना है। इसकी प्रमुख विशेषतायें, कलात्मकता, स्वाभाविकता, अर्थपूर्णता, पात्रों, भाषा तथा कथानक से सम्बद्धता, अन्विति, विविधता, एकजुटता, सन्तुलन, लय, गरिमा, आकर्षकता, प्रभावोत्पादकता, समता और विरोधाभास, अनुकूलता एवं समग्रता होनी चाहिये।

मंच विधान :

नाटक की मंचन शैली मंच सज्जाकार अपने हाथ में लेता है, और निर्देशक मंच सज्जा को दृश्यों के आधार पर उसे समझा देता है, फिर तकनीकी दृष्टि से जो कुशल व्यक्ति होते हैं वे दृश्यबन्ध का निर्माण करते हैं।

दृश्यबन्ध कपड़े, लकड़ी, प्लायवुड़ और अब लोहे, एल्यूमीनियम, काँच, फाइबर ग्लास तक से बनाये जाने लगे हैं। मंच सज्जा पर लाइट्स का विशेष प्रभाव और उसके यन्त्रों का उपयोग भी किया जाता है। मंच की सज्जा करते समय मुख्य

बात का ध्यान रखना होता है -

1. नाटक के माध्यम से निर्देशक अपनी अवधारणा से किस बात को कितना महत्व देना चाहता है।
२. नाटककार ने किस शैली का प्रयोग किया है और उसे किस शैली में प्रयोग में लाया जा रहा है।
३. किस काल का निर्धारण उसमें किया गया है।
४. नाटक की मूल संवेदना को अक्सर दृश्यबन्ध से जोड़ दिया जाता है, लेकिन पूर्ण सज्जा भी उसी संवेदना से जुड़ी हुई होनी चाहिये।
५. पात्रों की वेशभूषा के रंगों का ध्यान होना चाहिये।
६. मंच सज्जा करते समय बजट का ध्यान अवश्य रखना चाहिये।
७. जिस मंच पर नाटक किया जा रहा हो उसका मंच विधान भी उसी के अनुरूप होना चाहिये।

दृश्यबन्ध को कई प्रकार से मंच सज्जाकार नाटक में प्रयोग कर उसे सफल बना सकता है जैसे - प्रोसेनियम आर्च वाला रंगमंच बाक्स रंगमंच होता है। इसकी बनावट भी इसी तरह की होती है जिसमें तीन दीवारें सामने होती हैं तथा चौथी दीवार की कल्पना दर्शक स्वयं कर लेता है। ऐसा मंच अधिकतर यथार्थवादी विषयों के नाटकों में किया जाता है।

इस मंच के लिये यह भी जरूरी नहीं होता कि वह तीन दीवारों का ही होना चाहिये। वह कई दीवारों और कई कोण वाला भी हो सकता है। वैसे यह सेट रंगमुख पर ज्यादा प्रयुक्त होता है। परन्तु मुक्ताकाशी मंच पर भी इसका प्रयोग किया गया है। यह किसी भी नाटक के कमरे के अंदरूनी दृश्य बताने के लिये उपयुक्त होता है।

जब किसी मकान या मोहल्ले के बाह्य दृश्यों के लिए सेट्स लगाये जाते हैं, तब यह आवश्यक नहीं रहता कि मंच दीवारों से पूरी तरह ढका हो, बल्कि इश तरह के

सेट्स में रंगमंच के कुछ हिस्सों को प्रयोग में लाया जाता है। यह मंच बाक्स मंच से अलग होता है, किन्तु इस रंगमंच को ज्यादा समय तक प्रयोग में लाने के लिये लोहे के सेट्स बनाकर रख लिये जाते हैं। इन सेट्स को बनाने के लिये यह आवश्यक भी हो जाता है कि व्यावसायिक दृष्टि से इसमें एक ही बार व्यय करना पड़ता है जिससे वह अधिक समय तक चलता है। प्रायः इस रंगमंच का प्रयोग मुक्ताकाशी रंगमंच के लिये प्रयोग में लाया जाता है।

अलग-अलग तरह के रंगमंच पर मंच विधान नाटकों के दृश्यों के अनुरूप ही होता है। जैसे दृश्यों में अगर कहीं स्थायी भाव को दिखाना आवश्यक हों तो ऐसे समय कलात्मक निर्देशक मंच पर परदों का प्रयोग सामान्य रूप से भी कर सकता है। केवल पर्दों और झालरों के माध्यम से ही दृश्य का निर्माण किया जा सकता है। पारसी थिएटर्स में इस प्रकार के प्रयोग किये जाते थे।

अवयात्मक दृश्यबन्ध अलग-अलग भागों को एक क्रम में जोड़कर दिखाया जाता है। जब अलग जगहों के दृश्यों को एकसाथ दिखाया जा रहा हो तो बड़ी कुशलता के साथ इसका प्रयोग एक नाट्य निर्देशक कर सकता है।

मंच विधान के अन्तर्गत दृश्यबन्ध के आंतरिक आकार को तो प्रयोग में लाया ही जाता है साथ में बाह्य आकार को भी प्रयोग में लाया जा सकता है। जैसे किसी वस्तु या महल को दर्शाना हो तो वह केवल दरवाजों और चौखट मात्र से उसका आभास दर्शकों को दिला सकने का कार्य एक कुशल निर्देशक करता है।

एक खण्डात्मक दृश्यबन्ध तैयार करने का कार्य भी कुशल निर्देशक ही करता है और फिर उसे रंगमंच पर उपयुक्त जगह पर प्रयोग किया जाता है।

चक्रिल रंगमंच पर इन दृश्यबन्धों को एक चक्र में लगा दिया जाता है, जो

धीरे-धीरे घुमाने पर बदल जाता है। यह मंच अधिकर वहाँ प्रयोग में लाया जाता है जहाँ बाक्स मंच का उपयोग किया जा सके। इसके अलावा एक स्थान हटाकर दूसरे स्थान पर रखे जाने वाले दृश्यबन्धों का निर्माण किया जाता है। जहाँ ग्रीड की सुविधा होती ह वहाँ दृश्यबन्धों को ऊपर उठाने की भी व्यवस्था होती है। मशीनों के माध्यम से तलघर में भी दृश्यबन्ध लगाये जा सकते हैं। तकनीकी दृष्टि से निर्देशक इन दृश्यबन्धों का उपयोग विभिन्न शैलियों के माध्यम से ही करते हैं। प्राकृतिक दृश्यबन्ध कहाँ पर हैं, कहाँ उसे वास्तविक शैली का प्रयोग कर दृश्यबन्ध उपस्थित करना है इसका निर्णय भी वह निर्देशक स्वयं ही करता है।

जब वह मंच को ही अधिक सजा देता था तब उसका उद्देश्य साफ दिखाई पड़ता है कि वह प्रदर्शनवादी शैली का प्रयोग कर रहा है। दर्शकों को दृश्यों के प्रति आभास करा देना ही आभासात्मक शैली हो जाती है।

इस तरह मंच विधान को नाट्य निर्देशक एवं मंच सज्जाकार दोनों अपने तालमेल से नाटक को सफल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

वेश विन्यास :

भरत के नाट्यशास्त्र में अभिनय के चार प्रकारों में 'आर्ध्य' का स्थान भी है। संस्कृतकाल से भारतेन्दु काल तक व आधुनिक युग में भी वेशभूषा को नाटक में अत्यधिक महत्व दिया जाता है। संस्कृत काल में या यूँ कह लें कि आदिम काल से जो भी वस्त्र नाटक के लिये पहने गये होंगे, वे वस्त्रभूषा उसके लिये उत्तम रही होंगी। इन्हीं नाटकों को जब आज प्रस्तुत किया जाता है तो उनकी प्रस्तुति में आहर्य की विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही वेशभूषा को तैयार किया जाता है। जैसे अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोवर्शियम् आदि।

यह कार्य नाटकका या नाट्य निर्देशक का नहीं होता बल्कि एक कुशल

सज्जाकार इस काम को करता है। नाटक आधुनिक है या किसी विशेष परिस्थितियों में लिखा गया है इसको देखना भी सज्जाकार का प्रथम काम है। वेशभूषाकार तीन कारणों से विसिष्ट दृष्टि रखता है - प्रथम तन ढाँकने तथा दूसरा सामाजिक स्थिति के निर्माण तथा उसे संतुलित करने के लिये व तीसरा लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिये।

आज नाट्यों को प्रदर्शित करने के लिये इन सभी अंगों को विशेष ध्यान में रखकर ही रंगमंच पर नाट्य प्रयोग किया जाता है व वेशभूषा भी उसी नाट्य के अनुरूप की जाती थी। भरत ने वेशभूषा को सहानुभूति का विशेष साधन माना है।

"भरत ने वेशविन्यास के लिये वस्त्र आभूषण, मूल्य, प्रतिशिर केश विन्यास, अंगरचना, अंग राग, अनुलेपन आदि विवेचन किया है और सारे आर्ध्य में चरित्र के अनुरूप सामंजस्य पर बल दिया है।

विभिन्न वय, जाति, वर्ण, स्तर, योनि के आधार पर विभिन्न कोटि के वेश, रूप और रंग का निर्धारण कर उन्होंने उनकी भूमिकाओं, अवस्थाओं, प्रकृतियों आदि के अनुसार किया है।"[4]

वेशभूषाकार का उद्देश्य नाट्यानुभूति को अधिक प्रखर बनाकर प्रेक्षकों तक पहुँचाना होता है। इसलिए नाटक का चयन होने पर वेशभूषा सज्जाकार का नाम तय होते ही सज्जाकार अपनी योजना बनानी प्रारंभ कर देता है। उसका सर्वप्रथम कार्य होता है कि नाट्य विवेचना से सह विवेचना उपयुक्त कारणों के परिप्रेक्ष्य में कितनी सही है इसके लिये सज्जाकार निर्देशक से बात कर नाट्य शैली और निर्देशकीय उद्देश्यों की जानकारी लेता है। अधिकतर मंच सज्जा और वेशभूषा का कार्य एक ही व्यक्ति देखता है पर यदि अलग व्यक्ति हो तो वह उससे और आलोक निष्पादक से भी चर्चा करता है। इस प्रकार सज्जाकार को नाटक सम्बन्धी प्रथम जानकारी प्राप्त हो जाती है। इसके बाद वह अभिनेताओं की संख्या जानकर नाटक के लिये एक चार्ट तैयार करता है। इस चार्ट के अन्दर अभिनेताओं को किस समय कौन से वस्त्र पहनने

हैं और कैसे पहनने हैं इसकी जानकारी लिखी होती है।

"नाटक में अभिनेता किसी वेशभूषा को किसी विशिष्ट भूमिका में, अपने को समाहित करने के लिये करता है। ऐसी स्थिति में उसे पात्रानुकुल वेशभुषा धारण करनी पड़ती है, और वह दर्शक पर अपेक्षित प्रभाव डालने में समर्थ हो, यही उसकी आवश्यक शर्त की जा सकती है। इस रूप में वेशभूषा के चुनाव में पात्र की स्थिति, भावभूमि और मनोविज्ञान का मुख्य हाथ होता है। वेशभूषा में रंग का महत्व भी विशेष होता है। किन्तु ऐसी स्थिति में प्रकाश योजना पर विशेष ध्यान देना जरुरी है। क्योंकि कुछ रंग रंगीन प्रकाश में भद्दे दिखायी देते हैं। वस्त्र सज्जा युग और पात्र के अनुरूप तो होनी ही चाहिये, उसको छोटी-मोटी बारीकियाँ भी कथावस्तु, चरित्र आदि की अभिव्यक्ति में सहायक होती है जैसे वस्त्र का मैला, फटा हुआ, अलंकृत, ढीला-ढाला या कसा हुआ होना।"[5]

नाटक के लिये जिस चार्ट का प्रयोग वेशभूषाकार करता है वह उसी के सहारे अभिनेताओं के चित्र भी तैयार कर लेता है, जिससे वह सावधानीपूर्वक अपने बजेट में आये हुए सम्पूर्ण पैसों का इस्तेमाल कर सके और एक संक्षिप्त रूपरेखा तैयार कर निर्देशक या मुख्य व्यवस्थापक को दे देता है। जिसके स्वीकृत होने पर उपयुक्त वस्त्र रंग तलाश किये जाते हैं और स्वीकृत डिज़ाइनों के आधार पर उनकी वेशभूषा निर्माण का कार्य आरंभ कर दिया जाता है। इसे कुशल दर्जियों द्वारा किया जाता है। यही नहीं यदि आवश्यकता पड़ती है तो ऐसी वेशभूषा को किराये पर लाने का कार्य भी सज्जाकार को ही करना पड़ता है। सज्जाकार वेशभूषा के लिये मुखौटे भी तैयार करता है। हमारे यहाँ सज्जाकार स्वयं मेहनत करके विभिन्न प्रकार के पदार्थों का प्रयोग कर नाटक की मांग के अनुसार चरित्र का मुखौटा तैयार कर लेते हैं। इसलिये एक वेशभूषाकार के लिये मुखौटों का ज्ञान भी आवश्यक हो जाता है। इसकी बनाने की विधि की जानकारी अगर वह अपने प्रशिक्षण के दौरान ही पूरी कर लेता है तो वह एक अच्छा वेशभूषा सज्जाकार बन सकता है।

वेशभूषा निर्माण में निम्न बातों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है।

"1. नाटक के मूल भाव एवं नाट्य शैली की जानकारी।

2. वेशभूषा का इतिहास ।

3. मंच सज्जा, दृश्यबन्ध, आदि के रंगों की जानकारी।

4. आलोकन सम्बन्धी जानकारी।

5. अभिनेता की संख्या, भूमिकायें और खासकर उम्र।

6. प्रस्तुति के लिये बजट।

7. वेशभूषा के लिये बजट।

8. वेशभूषा तैयार करने वाले कारीगर।

9. वेशभूषा के डिजाइन्स।

10. वस्त्रों की जानकारी।"[6]

वेशभूषाकार रंगमंच पर तो नहीं आ सकता इसलिये वह रंगपीठ में रहकर कार्य करता है। वह अपने कार्य में जिन कठिनाइयों को दूर करना चाहता है रिहर्सल के दौरान वह उन्हें दूर कर सकता है। उसे समय-समय पर रिहर्सल के वक्त उपस्थित होकर अभिनेता की वेशभूषा संबंधी कठिनाईयाँ समझकर उन्हें दूर कर देना चाहिये, बल्कि प्रस्तुति के पूर्व भी ऐसी कठिनाई को दूर करने का प्रयास करना चाहिये। वेशभूषाकार के लिये सुविधाजनक एक ही बात है कि वह प्राचीनतम् वेशभूषा को भी इस तरह तैयार कर सकता है जिससे अभिनेता को भी पहनने में सुविधा हो जाय।

इस तरह वेशभूषाकार प्रारंभ से अंत तक प्रस्तुति के साथ जुड़कर अपने कार्य को सफलतम रूप में प्रस्तुत कर सकता है।

रूप-सज्जा :

सौन्दर्य नाटक का एक अभिन्न अंग है। नाटक में प्रयुक्त पात्र के अनुसार

अभिनेता के लिये इसका महत्व बहुत ही बढ़ जाता है क्योंकि अभिनेता या पात्र को नाटक के अनुरूप ही दिखना होता है और उसके लिये जरूरी हो जाता है कि वह सामान्य चेहरे से हटकर पात्र के अनुरूप ही अपना रूप बना सके।

"यदि अभिनेता चरित्रों के अनुकूल अपना चेहरा नहीं बदलता तो डर है कि दर्शक सभी नाटकों में अलग-अलग परिधानों और पोशाकों में एक ही चरित्र को देखेंगे और उनसे जल्द ही ऊब जायेंगे। इसे तोड़ने के लिये मेकअप का होना जरूरी है।"[7]

कृत्रिम प्रकाश में जिन नाटकों को खेला जाता है उस समय रूप सज्जा का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। मूल उपकरणों और रंगों की तीव्रता के कारण अभिनेता व पात्रों का वास्तविक चेहरा दिखाई नहीं देता और कभी-कभी तो वह इतना अप्रत्याशित दिखता है कि उसके वास्तविक रूप को हम पहचान सकने में अक्षम होते हैं। उसका केवल आभास मात्र ही हो पाता है कि कोई पात्र वहाँ खड़ा है।

रूप सज्जा के दो महत्वपूर्ण कार्य हैं :

1. पूरे चेहरे को सपाट सफेद कर देने वाले प्रकाश के प्रभाव को कम कर देना।
2. चेहरे पर आने वाले भिन्न भावों की स्पष्टता।

रूप सज्जा के लिये रूप सज्जाकार को चेहरों का ज्ञान होना बहुत जरूरी है क्योंकि उसे यहाँ मंच पर पात्रों के लिये बूढ़े चेहरे, जवान चेहरे, उदास चेहरे, प्रसन्न चेहरे, आदि चेहरों को सजाना होता है। साथ ही मुँह, नाक, ओंठ, भौंहें, दाडी, केश आदि की सजावट की जाती है। चेहरे को गोल, चौकोर, लम्बा, तिकोना व आँख, नाक, ठोड़ी, गाल पर झुर्रियों की सजावट भी मुँह की विशिष्ट आकृति तैयार करने में सहायक होती है।

"रूप सज्जा के लिये चेहरों को जानना आवश्यक होता है। हर प्रदेश, देश और काल के चेहरे की बनावट में खास अन्तर होता है। यह अंतर कभी-कभी इतना सूक्ष्म होता है कि साधारणतया हमारा इन पर ध्यान नहीं जाता। चेहरे का रंग भी कभी-कभी इस

अंतर को समझने में सहायता करता है। चेहरे की चमड़ी की बाह्य रचना भी इसमें सहायक होती है।

चेहरे की बनावट या जैसा वह हमें दिखाई देता है, हड्डियों की बनावट पर निर्भर करता है। अतः हमें चेहरे पर सज्जा करते समय उसे यथा सम्भव जाँच परख लेना चाहिये।"[8]

एक दर्पण के सामने खड़े होकर एक हाथ में दूसरा दर्पण और इसके हाथ में मोमबत्ती या टॉर्च लेकर सभी कोणों से चेहरे को देखकर उसकी बारीकियों को जानना चाहिये। टॉर्च के प्रकाश से हर कोण का प्रयोग कर चेहरे पर उसका प्रभाव जान लेना चाहिये। इसके बाद अपनी अंगुलियों से चेहरे का स्पर्श कर उसकी माँस-पेशियाँ उभार, आँखों के गड्ढों को भी ध्यान से महसूस करना चाहिये।"[9]

रूप सज्जा का प्रयोग नाटक में अनिवार्य तो है ही परन्तु इसके लिये जिन साधनों को प्रयोग में लाया जाता है, उसकी विशेष जानकारी भी आवश्यक हो जाती है। आदिकाल में जब नाटक किये जाते थे तब भी अभिनेता मंच पर रूप सज्जा करता था। उस समय वह प्राकृतिक रंगों का ही प्रयोग करता था। फिर धीरे-धीरे पानी के रंगों का प्रयोग लोकनाट्यों में, जैसे-रामलीला, रासलीला में करने लगे। इसमें पानी के रंग के लिये विशिष्ट प्रकार के खड़िया का प्रयोग किया जाता रहा, जिसे घोलने पर इसका रंग भड़कीला हो जाता था। आज साधारणतः वैसी ही प्रणाली उपयोग में लाई जाती है किन्तु इनका रंग चेहरे से न उतरे इसके लिये वे इसमें गोंद वगैरा भी डाल देते हैं। कई लोकनाट्यों जैसे यक्षगान व कथकली में चावल के आटे को रंगकर उपयोग में लाया जाता है।

इन सब के अलावा आधुनिक समय में विभिन्न शैलियों के लिये विभिन्न प्रकार से मेकअप किये जाने लगे। साठोत्तरी नाटकों में रंगमंच पर रूप सज्जा के लिये जिन वस्तुओं को प्रयोग में लाया गया उसमें ग्रीज़, पेन्ट व लेटेक्स मेकअप को शामिल किया गया। पेट्रोल से बने ग्रीज़ पेन्ट का उपयोग पेंटिंग के लिये किया जाता रहा किन्तु

रंगमंच के लिये इन रंगों में सुधार कर रूप सज्जा के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा। क्रीम बेस पर रंगों के अनेक शेड्स तैयार कर लिये जाते हैं फिर उन्हें रूप सज्जा के अनुसार चेहरे पर आराम से लगा दिया जाता है। बाजार में इस प्रकार के मेकअप (रंग) बेस, मिलने में परेशानियों का सामना रूप सज्जाकार को नहीं करना पड़ता है। लेटेक्स मेकअप का प्रयोग अधिकतर फिल्मों या बड़े बजट वाले नाटकों के लिये किया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि यह मेकअप रबर का बनता है जिसमें पहले प्लास्टर का डमी चेहरा बनाना पड़ता है। उस पर लेटेक्स चढ़ाकर उस डमी के अनुसार उसे परिवर्तित किया जाता है। इस प्रक्रिया में खूब मेहनत व अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, किन्तु जब मेकअप तैयार होता है तब वह मेकअप कोई दूसरा पात्र उपयोग में लहीं ला सकता है। इस मेकअप से व्यक्ति का चेहरा पूरी तरह से बदला जा सकता है।

साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में मेकअप के अन्य कई साधनों को सावधानी से रूप सज्जाकार प्रयोग में लाता रहा है जैसे;

1. फाउन्डेशन बेस : जो अलग-अलग शेड्स में मिलती है। रूप सज्जाकार चेहरे पर सबसे पहले इसको लगाता है ताकि अन्य साधनों का प्रयोग वह आसानी से व सरलता से कर सके।
2. विभिन्न रंगों के लाइनर्स उपयोग में लाये जाते हैं, जिसके द्वारा विशेष प्रभाव दर्शाये जा सकते हैं। साथ ही कलर्ड पैंसिलें भी भौंह, आँख, मूँछों आदि बनाने के काम आती है।
3. बड़े बालों, मूँछों, दाढ़ी आदि के लिये भी नकली बालों का प्रयोग रूप सज्जाकार पात्रों के अनुकूल करता है। दाढ़ी व मूँछों को चिपकाने के लिये स्पिरिट गम का प्रयोग वह करता है।
4. चेहरे की बनावट को बदलने के लिये सामान्य रूप से मेकअपमैन नकली मिट्टी का प्रयोग करता है। इसे नोजपुट्टी भी कहते हैं। ब्रश कई तरह के प्रयोग में लाये जाते हैं। रूपसज्जा के लिये ब्रश का उपयोग काफी महत्वपूर्ण

होता है।

5. बालों को सफेद करने के लिये, जिससे पात्र ज्यादा उमर का दिखने लगे, इसके लिये सफेद रंग में जिंक का घोल रूपसज्जाकार प्रयोग में लाता है। इसे हेयर व्हाइटनर भी कहते हैं।

एक नाटक के लिये रूप सज्जा का अत्यधिक महत्व होता है। इसी के माध्यम से पात्र उस चरित्र को सकुशल निभा पाता है, जो नाटक की माँग होती है। अभिनेताओं के चेहरे पर मेकअप, नाटक के चरित्र पात्रों, तथा मंच पर प्रकाश व्यवस्था किस तरह की है? और अभिनेता व दर्शक के मध्य की दूरी, देश, काल, उम्र व शैली व अभिनय कैसा है? इन सबका मुख्य रूप से ध्यान रखना पड़ता है।

पुरानी परम्परा के अनुसार मेकअप करना है या आधुनिक परम्परा के अनुसार।शास्त्रीय शैली के माध्यम से पात्रों के रूप सज्जा का कार्य भी आज विशेष उल्लेखनीय माना जा रहा है। राम के चरित्र में राम के कपाल पर सफेद बिंदी लगाना तथा यक्षगान के समय आँखों के आसपास गोलाकार बनाना। नाटक के प्रारंभ में जब मंगलाचरण के समय गणेश वंदना की जाती है, उस समय दर्शक उनको व अन्य देवताओं को उसी रूप में देखना पसंद करते हैं, जिस रूप में उनकी वंदना की जाती है। गणेशजी के चरित्र के लिये एक लम्बी सूँड, एक दंत, विशाल कर्ण, लम्बोदर आदि की रूप सज्जा द्वारा उनके चरित्र को परम्परागत रूप में ढाला जा सकता है।

अन्य चरित्रों को साधारण तथा नाट्यों में अभिनेता के चरित्र के अनुसार ही रूप सज्जित कर दिया जाता है। किन्तु अगर कोई ऐसा चरित्र हमारे सामने आता है जिसे केवल प्रतिक रूप में मात्र दर्शाना हो तो इसके लिये रूप सज्जा इस प्रकार मेकअपमेन कर सकता है।

जैसे - किसी राक्षस को मंच पर प्रदर्शन के लिये भेजा गया। वहाँ उसके बाल लम्बे-लम्बे हैं और दाँत बड़े-बड़े, बाहर निकले हैं, तो वहाँ अगर नकली दांत की व्यवस्था

नहीं है तो रूप सज्जाकार ओठों के आसपास दो बरे सफेद रंग के दांत बना देता है, जो प्रतीक होते हैं दांत के। आज इस शैली का प्रयोग प्रायः कम ही होता है।

साठोत्तरी रंगमंच बन्द कमरे से निकलकर सड़कों पर भी आ गया है। जहाँ आधे घंटे क नाटक को एक टोली बनाकर (अभिनेता मिलकर) खुले रंगमंच पर दिन के प्रकाश में, यथार्थ कहानी का किसी विशेष घटना को सामने रखकर खेला जाता है। इसमें रूप सज्जा की ज्यादा आवश्यकता नहीं होती। अभिनेता केवल अपने संवादों को माध्यम बनाकर इसकी चर्चा कर देता है।

आलोकन :

मंच पर नाटक में प्रकाश का विशेष महत्व रहता है। इसके बगैर हम किसी दृश्य की कल्पना नहीं कर सकते हैं। प्राचीनकाल में संस्कृत आदि नाटक तो सूर्य के प्रकाश में ही खेल लिये जाते थे। उस समय इस आलोकन सम्बन्धी विशेषताओं को ध्यान में नहीं रखा जाता था। बाद में समय के बदलते स्वरूप के साथ धीरे-धीरे ये नाटक मशालों में, तेल के दियों और मोमबत्तियों आदि में किया जाने लगा। मंच पर इन तेल के दियों और मशालों से इतना धुआँ होता कि कभी-कभी नाटक के दृश्य उस धुएँ में छिप जाते थे। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर बड़े-बड़े प्रेक्षागृह बनाये जाने लगे और प्रकाश व्यवस्था का स्थान बदलने लगा। 1817 में गैस लाइट का प्रयोग आरम्भ हुआ जिससे प्रेक्षागृह पर कम ज्यादा प्रकाश का प्रभाव बतलाया जा सका। 1860 के करीब केवल मंच पर लाईट को रखने का प्रयोग किया गया और यह अत्यंत सफल भी हुआ। 1880 में इलेक्ट्रिक लाइट का प्रयोग किया गया जो पूर्ण प्रेक्षागृहों को प्रकाशित करती रही। फिर बीसवीं सदी के आरम्भ में स्पॉटलाइट का प्रयोग किया जाने लगा। सम्पूर्ण मंच पर परिवर्तन आने लगा और विकास की दृष्टि से यह सरल से जटिल और जटिल से सरलतम बनता गया, किन्तु प्रकाश व्यवस्था जटिल से और जटिलतम बनती चली गई। इसी कारण आज के इस आधुनिक मंच पर हजारों स्पॉटलाईट, विशेष प्रभाव उत्पादक उपकरण आदि एक विशेष तकनीकी जानकारी

रखने की अपेक्षा रखते हैं।

नाटक को जब मंच पर प्रस्तुत किया जा रहा हो तो उसके मंचन में प्रकाश व्यवस्था के लिये निम्न बातें ध्यान में रखी जानी चाहिये जिससे उसके मुख्य उद्देश्यों को प्रकाश में लाया जा सके -

1. दृश्य का दिखायी पड़ना।
2. दृश्य के मूल भाव में सहायता करना।
3. दृश्यों के बीच में विशिष्ट प्रभाव पैदा करना।
4. पात्रों के अभिनय को उभारने में सहायता करना।
5. समूह संरचना में सहायता करना।

"वास्तव में प्रकाश योजना का अर्थ रंगमंच पर केवल उजाला कर देना मात्र नहीं है, उजाला करना है पर यह जानते हुए कि कहाँ उसे करना है, कहाँ नहीं। इसमें अभिनेता और दृश्य को साथ में प्रकाशित करना भी एक लक्ष्य होता है पर इसके साथ ही अभिकल्पक को सारे नाट्यार्थ को भी प्रकाशित करना पड़ता है, इसलिये वह प्रकाश का उपयोग एक मंचीय मुहावरे के रूप में करता है, जिसमें सारी प्रकाश योजना अभिव्यक्ति का एक माध्यम बन जाती है।"[10]

"प्रोसीनियम थियेटर में चूंकि दर्शक तस्वीर के फ्रेम सरीखे मंच के एक ओर ही बैठते हैं इसलिये उन्हें मंच पर चल रहे कार्य व्यापार, चलती-फिरती तस्वीरों की तरह दिखने का खतरा रहता है क्योंकि सामने से पड़ने वाले स्पॉट प्रकाश के कारण उन्हें सिर्फ दो आयाम मिलते हैं - चौड़ाई और ऊँचाई। मंच पर एक और तीसरा आयाम भी है गहराई, लेकिन यह अकसर सहज में पता नहीं चलता। इस तीसरे आयाम को दिखाने के लिये कई तकनीकों का इस्तेमाल किया जाता है। दृश्यों को इस तरह तैयार किया जाता है कि वे गहराई का आभास दे सकें। मंच को कई तलों में विभक्त करते हैं और तदअनुसार उन पर पात्र संयोजन कर तीसरे आयाम का आभास पैदा

करने का प्रयास किया जाता है।"[11]

पश्चिमी रंगमंच से रंगों के जो वैज्ञानिक अथवा मानसिक मूल्य हम अपनाते हैं, जैसे पीला रंग किसी के लिय तो हरा रंग अमुक वस्तु के लिये, उसी प्रकार हमारे यहाँ रंग प्रकृति के साथ जुड़े हैं। त्यौहारों के साथ जुड़े हुए हैं। भौगोलिक परिस्थितियों से जुड़े हैं। हमारे यहाँ राजस्थान व गुजरात में मुख्य रंग पीला और लाल है। ये दोनों चमकीले रंग हैं। क्योंकि इन प्रदेशों की जलवायु गरम है उसके बावजूद ये रंग क्यों हैं? वहाँ वे और क्यों अच्छे लगते हैं। राजस्थान में प्रकृति इतनी शुष्क और बंजर है, तो जो प्रकृति में मौजूद नहीं है उसकी क्षतिपूर्ति वहाँ के लोग अपनी जिन्दगी में करते हैं। इसके विपरीत पश्चिम में रंग प्राकृतिक व्यापारों, भूगोल, जलवायु आदि से न जुड़कर यांत्रिकीकरण से जुड़े हुए हैं।

नाटक में मंच पर प्रकाश की व्यवस्था सूर्य के प्रकाश से भिन्न है। नाट्य क्षेत्र में जिन प्रकाश माध्यमों का प्रयोग किया जाता है, वे इस प्रकार हैं :

"1. बीम लाइट्स : यह अत्यन्त तीव्र और संकरा प्रकाश उपकरण है, जिसमें से तेज सफेद रोशनी निकलती है। इसकी रोशनी इतनी अधिक होती है कि इसका सीधा प्रकाश चेहरे पर पड़ने से इसका विपरीत असर होता है। इसलिये इसका प्रयोग दूर से किया जाता है।

2. फ्लड़ लाईट्स : यह एक साधारण उपकरण है जिसमें एक बल्ब और उसके पीछे चमकीला शेड़ लगा होता है। टेबल लेम्प का यह बड़ा रूप कहा जा सकता है। प्रकाश का अधिक फैलाव ही इसका दोष है जिससे दृश्य की एकाग्रता में बाधा पड़ती है।

3. फ्रेजनल लाईट : यह प्रकाश माध्यम, तीव्रता के लिये प्रयोग में लाया जाने वाला उपकरण है। इसमें आगे फ्रेजनल लैंस लगा होता है। इसके फोकस को एडजेस्ट किया जा सकता है।

4. प्रोफाइल स्पॉट : इसमें पेराबोलिक रिफ्लेक्टर्स लगे होते हैं। इस कारण इसकी प्रकाश तीव्रता फ्रेजनल से ज्यादा और बीम लाइट से कम होती है। इसका फोकस भी कम ज्यादा किया जा सकता है।

5. प्रिज्म कान्वेक्स स्पॉट : यह भी प्रोफाइल स्पॉट की ही तरह होती है। लेकिन इनमें एक विशेष तरह का लैंस लगा होता है। जिससे फोकस साफ-साफ ऐडजस्ट हो जाता है।

6. हैलोजन लाईट्स : यह एक साधारण मरक्यूरी ट्यूब की तरह एक छोटी ट्यूब से बना प्रकाश उपकरण है, जिसमें फोकस करने की व्यवस्था नहीं रहती है। यह उपकरण भी फ्लड़ लाईट्स की तरह उपयोग में लाये जाते हैं। अब इसमें स्पॉट भी बनने लगे हैं।

7. कन्डेंसर स्पॉट लाइट : यह साधारण स्पॉट लाइट है जो यहाँ सर्वाधिक प्रचलित है। इसमें दो उत्तल लैंस या एक लैन्स, जिसे कन्डेंसर कहते हैं लगा होता है। तथा परावर्तन के लिये बल्ब के पीछे अवतल दर्पण लगा होता है। इसका फोकस बल्ब के नीचे लगे स्क्रू से एडजस्ट किया जाता है।

8. डिमर या मंदक : प्रकाशीय उपकरणों से संचालित करने के लिये जिसका प्रयोग किया जाता है उसे डिमर या मंदक कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं।

   i. पानी के मंदक : प्रारम्भ में जब इलेक्ट्रीक उपकरणों का प्रयोग आरम्भ हो गया था, तब पानी में कुछ एसिड़ डालकर, दो लोहे की छड़ों से करण्ट की तीव्रता कम ज्यादा की जाती थी यह मंदक काफी खतरनाक होते थे। थोड़ी-सी असावधानी से इससे करण्ट लगकर मनुष्य की मृत्यु हो जाती थी।

   ii. अवरोधक मंदक : इसमें अलग-अलग अवरोधक की क्वाइलें होती हैं, जिनमें करण्ट बहने पर उसकी तीव्रता अवरोधक के कारण कम हो जाती है। इस मंदक का प्रयोग आज भी बड़ी कुशलता के साथ किया जा रहा है।

   iii. इलेक्ट्रॉनिक मंदक : इलेक्ट्रॉनिकी के विकास के साथ ही इस तरह के

मंदक प्रयोग में आने लगे हैं, जिनमें ट्रांजिस्टर और कन्डैन्सर्स के प्रयोग से करण्ट की तीव्रता कम कर दी जाती है। इस तरह के मन्दकों में अब स्वचालित मन्दक भी प्रयुक्त किये जा रहे हैं। इनमें एक बार आलोकन की पूर्ण टेप बनाकर कम्प्यूटर में रख दी जाती है और पूर्ण नाटक में अपने आप आलोकन होता रहता है।

विश्वभावन देवालिया का कथन है - "वैज्ञानिक प्रगति के साथ ही आधुनिक विद्युत यंत्रों के आविष्कारों से प्रकाश को नाट्य में नियंत्रित, नियोजित, केन्द्रित और प्रवाहित करने की विविध विशिष्ट विधियों ने नाट्य अभिनय के प्रभाव तथा उसके माध्यम, गति एवं कार्य व्यापार को संतुलित एवं व्यंजित करने में अभूतपूर्व योग प्रदान किया है।"[12]

प्रकाश की योजना इस प्रकार की जानी चाहिये कि उसमें पात्रों, अभिनेताओं पर अधिक छाया नहीं आये। किसी विशेष प्रभाव की आवश्यकता न हो तो उसका चेहरा सपाट होना चाहिये। किन्तु प्रकाश के समय वेशभूषा का भी खयाल रखना आवश्यक हो जाता है। जैसे अगर राम के चरित्र को दर्शाना है तो सफेद या पिली लाइट का प्रयोग किया जाय और रावण के चरित्र में लाल लाईट, फूटलाईट्स के माध्यम से प्रयुक्त की जानी चाहिये, जिससे रावण का चेहरा डरावना दिखायी देने लगता है और उसकी वेशभूषा द्वारा उसके चरित्र का स्पष्टीकरण अपने आप हो जाता है। नाटकीय पात्रों की वेशभूषा का ध्यान इसलिये भी रखना जरुरी हो जाता है कि रंगीन प्रकाश पड़ने पर उसका प्रभाव नाटक के मूल भाव को नष्ट न करे। इसलिये आलोकन के क्षेत्रों को बाँट दिया जाना चाहिये। तथा उनके प्रभावों की जाँच परख कर लेनी चाहिये। स्पॉट लाइट के कनेक्शन इस तरह रखने चाहिये कि उनमें कहीं करण्ट नहीं होनी चाहिये और उसको सावधानी से फोकस किया जा सके।

पार्श्वमंच में रहकर अपने परिश्रम और प्रतिभा से नाटकों की सफलता में

महत्वपूर्ण योगदान करने वाले कलाकारों की चर्चा, रंगमंच पर प्रदर्शन करने वाले कलाकारों की अपेक्षा बहुत कम ही हो पाती है। नाटककार नाटक की स्थितियों, घटनाओं, पात्रों के मानसिक भावात्मक उतार-चढ़ाव को अभिव्यक्ति देते समय ऐसे रंग-संकेत देता चलता है कि निर्देशक प्रकाश के इस्तेमाल के बारे में जानकारी हासिल कर ले कि कहाँ पर प्रकाश का इस्तेमाल किया जाना है। इसके बाद का सारा काम प्रकाश-निर्देशक का ही होता है और वह सम्पूर्ण नाट्य में प्रकाश की व्यवस्था स्वयं करता है।

मुखौटों का प्रयोग :

रंगमंच पर मुखौटों का प्रयोग या तो किसी चरित्र और उसकी स्थिति की व्याख्या के अनुसार होता है या फिर अनुभव को अभिव्यक्त करने में, जो साधारणतया अन्य प्रकार से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। विश्व के बड़े-बड़े निर्देशक नये और पुराने अभिनेताओं को सिखाने के लिये इन मुखौटों का प्रयोग करते हैं। तकनीक एवं अपने अनुभव के आधार पर ही अभिनेता को इन तटस्थ मुखौटों पहनकर मंच पर जाना होता है।

सातवें दशक में गिरीश कर्नाड़ के 'हयवदन' तथा हमीदुल्ला के 'दरिन्दे', बृजमोहन के 'त्रिशंकु'नाटकों में मुखौटों का सफल प्रयोग हुआ है। 'दरिन्दे' नाटक में शेर, लोमड़ी और भालू को मुखौटेधारी व्यक्ति द्वारा मंच पर दर्शाया गया है तो हयवदन में घोड़े को।

न्यूजीलैण्ड की मंजी हुई फिल्म और नाटक निर्देशिका जीवन मेरी का इस तकनीक के बारे में मानना है कि यह एक सामूहिक अभ्यास है जो एक, तीन और पाँच दिन तक करवाया जाय। 'न्यूट्रा मास्क' जो मोम से बना सफेद मुखौटा होता है, जिसे पहनकर जीवन के विभिन्न प्रसंगों में प्रतिसंवेद करने का अभ्यास किया जाता है। पाश्चात्य निर्देशक इसका प्रयोग अभिनय को माँजने के लिये करते हैं। यह

मुखौटे 'नो माइंड' का प्रतीक हैं। इसे पहनते ही आदमी या अभिनेता का मन रूक जाता है। चूंकि यह मन के पार का अनुभव देता है, इसलिये इस मुखौटे को पवित्र माना जाता है।

इसे पहनने का तरीका यह है : अभिनेता होशपूर्वक चलते हुए आदमकद के आईने के सामने जाकर खड़ा हो जाता है, पहेल अपनी शक्ल को गौर से देखता है। फिर आदरपूर्वक पास में रखा हुआ मुखौटा उठाकर पहनता है, और धीरे-धीरे मंच पर प्रवेश करता है। यह मुखौटा पहनते ही हर अभिनेता के भीतर कुछ बदल जाता है। उसके मन की गति धीमी हो जाती है, उसके साथ ही उसके शरीर की भी। एक खामोश सजगता पैदा होती है। और इसका असर सामने बैठे हुये दर्शकों पर भी होता है। मुखौटे के भीतर छाया हुआ सन्नाटा दर्शकों को भी घेर लेता है। मुखौटे पहनकर चलने वाले व्यक्ति को एक बात तुरंत ही पता चल जाती है कि जब वह मंच पर इसका प्रयोग प्रत्यक्ष कर रहा हो तो शरीर के अंगों को व्यर्थ ही नहीं हिलाना है। मुखौटा शरीर के हलन-चलन को एकदम कम कर देता है। इसे पहनकर बातचीत शब्दों के माध्यम से नहीं, शरीर के अंगों द्वारा की जाती है। अभिनेता को महसूस होता है कि थोड़े से इशारों में कितनी बड़ी बातें कही जा सकती है।

मुखौटा पहनने पर अभिनेता अपने व्यक्तित्व से अलग हो जाता है। उससे बाहर निकल आता है। उसे दर्शकों के साथ संबंधित करने में जो कठिनाईयाँ पैदा होती हैं वे इसलिये कि हर कोई अपने नकली व्यक्तित्व के द्वारा दूसरे के साथ बातचीत करता है, इसलिये इन संबंधों में क्लेश बना रहता है। अगर हम हमारे सूनेपन को निकालकर एक-दूसरे से मिले तो कोई टकराहट नहीं होगी। आधुनिक रंगमंच इन्हीं बौद्धिक यथार्थवाद और इसके परित्याग से जुड़ा रहा है। आधुनिक मुखौटों में अमूर्तिकरण का तत्व भी बड़ी मात्रा में है। वह केवल उसके प्रयोगों से ही पहचाना जाता है जो किसी रुढ़ि का पालन नहीं करता। इन मुखौटों की सामग्री, आकृति, आकार और प्रयोग में बड़ी विविधता है।

पैरिस के 'जैक लि लोक माडम स्कूल' में तो केवल इन मुखौटों पर ही अभ्यास कराया जाता है, किन्तु भारत में यह नाट्य प्रयोग का एक अंग मानकर सभी शिक्षण संस्थाओं में इसका प्रशिक्षण दिया जाता है। नाट्य प्रशिक्षण के दौरान जब अभ्यार्थियों को ध्यान कराया जाता है तब बहुत कीमती हो जाता है यह प्रयोग! पहले छोटे-छेटो ध्यान प्रयोगों से अभ्यार्थियों के तनावों को विसर्जित कर दिया जाता है। भीतर एक मौन छा जाता है उसके बाद ही धीरे-धीरे इन मुखौटों का प्रयोग करना सिखाया जाता है।

इस बारे में एच.वी. शर्मा का मत है - "आधुनिक मुखौटा भी अपनी अमूर्त आकृतियों के साथ, अभिनेता के चेहरे पर दूसरे मुखौटे की तरह ही लगाया जा सकता है, या किसी व्याख्यामूलक पृष्ठभूमि को सूचित करने के लिये मंच पर लटकाया जा सकता है, या उद्देश्य की गम्भीरता के अनुरूप मंच पर पहना या उतारा जा सकता है। इस प्रकार मुखौटे का प्रयोग विविध प्रकार से सृजनात्मक और सार्थक रूपों में हो सकता है।"[13]

अधिकतर मुखौटे भारत में कपड़े, प्लास्टिक, पॉलिस्टर और फाइबर ग्लास के बनाये जाते हैं। इन सभी के लिये मुखौटे बनाने की अलग-अलग विधियाँ हैं।

अभिनय :

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में अभिनय के सभी अंगों और उपागों का विस्तार से वर्णन किया है। लेकिन कुल मिलाकर अभिनय के मुख्यतः चार भेद उन्होंने बताये हैं। अंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य। आंगिक अभिनय में अंगों के माध्यम से से अपने अभिनय एवं कार्यों को दर्शाया जाता है। अतः हाथ, सिर, उर, पाइर्व, कटि और पैर इन छह अंगों से अभिनय किया जाता है। आँख, भौंह, नाक, अधर, कपोल, ठोड़ी इन उपागों का भी उपयोग श्रेष्ठ अभिनय में किया जाता है। कंधा, बाहू, पीठ,

उदर एवं जंघा, आदि के द्वारा भी अभिनय कला को संवारा जा सकता है। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में अभिनय के इन सभी अंगों के अभिनय का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। सिर के तेरह रूप अभिनय में तथा दृष्टि के छत्तीस प्रकार, पलकों के अभिनय के प्रकार आदि का विश्लेषण उन्होंने अपने नाट्य शास्त्र में किया है। (भौहों के सात, नाक, कपोल और अधर के छह-छह तथा ठोड़ी के आठ प्रकार, तेरह प्रकार के दोनों हाथों का अभिनय, चौबीस प्रकार के एक हाथ का अभिनय, चौंसठ प्रकार का नृत्त हस्त तथा चार प्रकार का हाथ के कारण का अभिनय।)

आंगिक अभिनय के अन्तर्गत अंग संचालन की गति का भी ध्यान रखना आवश्यक है। अतः प्रेम में इसकी गति ललित होगी किन्तु क्रोध में यही गति अधिक तीव्र और आवेशपूर्ण हो जायेगी। (विभिन्न मनोदशाओं में मनुष्य की गति भिन्न होती है, इसलिये इन मनोदशाओं को ध्यान में रखकर ही आंगिक अभिनय किया जाता है। गति का प्रयोग नाटक में अभिनेता के लिये कुशलता प्रदान करता है।)

वाचिक अभिनय से तात्पर्य भाषा और संवादों के अभिनय का रूप वर्णन या वाणी द्वारा जो कुछ भी उच्चारित होता है उससे है। वाचिक अभिनय का 'नाट्यशास्त्र' में विस्तार से विवेचन करते हुए भरत ने बताया है कि वाक्य संस्थानों के अन्तर्गत बलाधात तथा स्वरालय का महत्व है। क्योंकि ये वाक्य संरचना व्याकरण सम्मत एवं श्रवण तथा गुण से युक्त होती है। संवादों के लिये छत्तीस नडय लक्षण, वाक्य रचना के लिये दस गुणों की तथा दस दोषों की चर्चा की है।

सात स्वरों में - सा, रे, ग, म, प, ध, नि

दूर वाले व्यक्ति को बुलाने के लिये शिर स्थान का प्रयोग तथा निक वालों को बुलाने के लिये उर स्थान का प्रयोग करना चाहिये जिससे स्वरों के उच्चारण में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है। इसी प्रकार चार वर्णों से - उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा कम्पित।

दो काकु - साकांक्षा और निराकांक्षा।

शब्दों के उच्चारण, काव्यपाठ की विधि, श्वास प्रश्वास की क्रिया से वाचिक अभिनय को निखारा जा सकता है।

"श्वास प्रश्वास के योग से वाक्योच्चारण के छह अंग भरत ने बताये -

1. विच्छेद जहँ बोलने में विराम दिया जाये।
2. आणि जहाँ मधुर ध्वनि से बोला जाये।
3. विसर्ग - जहाँ वाक्य की समाप्ति हो।
4. अनुबंध - एक ही सांस में बिना स्वर टूटे निरंतर बोला जाय।
5. दिनपउर - कंठ तथा सिर स्थानों से स्वर को क्रमशः बढ़ाया जाय।
6. प्रशमन - बिना बेसुरे हुए तार स्वरों को नीचे लाया जाय।"[14]

सात्विक अभिनय के आठ प्रकार भरत ने बताये - स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, वेपधु, वैण्र्य, अश्रु और प्रलय। इन्हीं 'आठ प्रकारों' द्वारा सात्विक अभिनय किया जाता है। जब कुछ भाव मन में पैदा हो जाये; जैसे आँखों से आँसू का निकल आना या अधिक सुख की प्राप्ति के बाद रोमांचित हो उठना आदि सात्विक भाव ही कहलाते हैं। सात्विक भावों का वर्णन नाट्य शास्त्र में विस्तार से दिया है।

"सत्व मूलतः मन से सम्बद्ध होता है। भरत के 'सत्वनाम मनः प्रभवम्' और रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'अवहितं मनः सत्वं' कहकर इसका विश्लेषण किया है।"[15]

आहार्य अभिनय में बाहरी उपकरणों की चर्चा की गयी है। इसमें विशेष रूप से वेशभूषा एवं रूप सज्जा को महत्व दिया गया है। भरत के अनुसार जिस पात्र का अभिनय किया जाना है उस पात्र के अनुरूप उसकी वेशभूषा और रूप सज्जा होनी चाहिये। इसलिये उस अवस्था के अनुकरण को सत्य प्रदर्शित करने के लिये आहार्य अभिनय ही आवश्यक समझा जाता है। आज के रंगमंच में अभ्यार्थियों को सर्वप्रथम अभिनय का प्रशिक्षण दिया जाता है। अभिनेता में अभिनय के अलावा उसकी आवाज का महत्व भी होता है। यदि अभिनेता स्वस्थ एवं अच्छी भावमुद्रा का प्रयोग करता है, परन्तु उसकी आवाज पतली हुई तो उसके अभिनय में कमी अवश्य महसूस होने लगती

है। इसके लिये अभ्यास के समय अभिनेता को शारीरिक, मानसिक व्यायाम के साथ साथ कंठ का व्यायाम भी कराया जाता है।

कंठ के अन्दर ध्वनि यंत्र होने के कारण यंत्र से कम्पन होने लगता है एवं कंठ से आवाज बाहर निकलती है। यह कम्पन नाभि, छाती, गला, नासिका और मस्तिष्क उसे स्वरालाप होता है।

संगीत के सात स्वरों का उच्चारण हम अभिनय में इन केन्द्रों से कर सकते हैं। जब हमारी बात बहुत धीमे स्वर में कही जानी हो तो नाभि कम्पन का केन्द्र रहता है और जब अत्यन्त तेज ध्वनि निकाली जाय तो 'म' या 'न' द्वारा मस्तिष्क केन्द्र बनता है, किन्तु संगीत के जो स्वर हैं उन्हें तो माधुर्य लाने के लिये ध्यान में रखा ही जाता है, साथ-साथ कुछ लोग सिर्फ तीन केन्द्रों को ही प्रयोग में लाते हैं। कंठ के अभ्यास के लिये महत्वपूर्ण बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

1. नाभि केन्द्र से कम्पन्न आरम्भ करते हैं, इसके लिये पीठ गर्दन सीधी कर मुँह ऊपर की ओर करके 'ऊँ' की ध्वनि देते हुए आवाज निकालते हैं और पाँचों केन्द्रों को कम्पित करते हुए एक-एक बार ध्वनि निकालते हैं।
2. नाभि केन्द्र से केवल 'अ, उ, अ' की ध्वनि निकालते हैं।
3. लम्बी सांस लेकर बिलकुल धीरे-धीरे हवा निकालना।
4. मुँह की मांसपेशियों का पूरा व्यायाम करना।
5. बहुत जोर-जोर से कुछ शब्दों का उच्चारण करना।

उन अभ्यासों से पूर्ण अभिनेता को अपनी आवाज सामान्य कर लेनी चाहिये जिससे उसके कंठ पर जोर न पड़े। संवादों में देखा गया है कि अभिनेता को आवाज तेल एवं भारी होने पर भी उसके संवादों में इतनी गलतियाँ होती हैं कि उसका अर्थ ही कभी-कभी बदल जाता है। इसलिये भी अभिनेता को शुद्ध उच्चारण की तैयारी कर लेना चाहिये। इसके लिये उसे बार-बार संवादों को बिना उतार-चढ़ाव के तेज बोलना

चाहिये। तथा एक ही संवाद को अलग-अलग ढंग से बोलना चाहिये।

नाटक के मंच पर मुख्य अभिनेता ही होता है। उसमें हर समय नाटक चरित्र और स्थितियों को सुलझाने की क्षमता होनी चाहिये। उसके संवादों में एक-एक शब्द दर्शकों को सुनाई पड़ना चाहिये। क्योंकि संवादों के माध्यम से ही वह अपनी बात दर्शकों तक पहुँचाता है। एक अच्छे संवाद संभाषण के लिये विशेष गुण ये होते हैं -

1. संवाद बोलते समय हर शब्द, ध्वनि दर्शकों की अंतिम पंक्ति तक सुनाई दे।
2. शब्दों की स्पष्टता।
3. संवादों के माध्यम से भावों की सम्प्रेषणीयता होनी चाहिये जिसमें बीच में वाक्य जोड़ना, शब्दों का उतार-चढ़ाव तथा शब्दों पर जोर देना।

अगर अभिनेता को तुरंत अभिनय के लिये कहा जाय तो उसे इसके लिये तैयार होना चाहिये वह Improvisation के माध्यम से इसका अभिनय करता है। माना कि किसी अभिनेता को एक डाक्टर का अभिनय करने को कहा जाय तो वह उसकी तरह चलने-बोलने के अलावा उससे जुड़ी किसी घटना को कुछ खास चीजों को लेकर Improvisation करता है। इसका प्रयोग लोकनाट्यों में अधिक होता है। अभिनय कला को Improvisation (आशु अभिनय) में अभिनेता पात्र का परिचय, घटना का परिचय, घटना का विकास चरम और लक्ष्य का ध्यान अवश्य रखता है। इस अभिनय के अन्तर्गत संवाद बोले भी जा सकते हैं और नहीं भी। मूक अभिनय के माध्यम से भी एक सम्पूर्ण नाटक खेला जा सकता है। इसमें मात्र बिना संवाद बोले केवल अभिनय के द्वारा किसी घटना स्थिति और भावों को प्रत्यक्ष करता है।

आज अभिनेता को नाट्य से जुड़ी हर विधा का ज्ञान होना आवश्यक समझा जाता है। केवल संवादों और अभिनय के माध्यम से वह नाटक को सफल नहीं बना सकता है। उसे संगीत की ताल, लय, नृत्य आदि को भी जानना चाहिये। नाटक के

मध्य में संगीत के आने पर ऐसे नृत्य भी करता है तथा ताल एवं लय का भी ध्यान रखना होता है। इससे एक बात और ध्यान देने योग्य होती है कि यह सब करते हुए उसे भावों के प्रदर्शन पर भी ध्यान देना होता है। क्रोध या प्रेम के भावों को ताल एवं लय के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। इन सबकी गति नाटक में निर्धारित की जाती है जो प्रस्तुति से पूर्व अभिनेता व निर्देशक को मालूम होती है।

संदर्भ सूचि

1.	रंगमंच सरोकार	पृ. 63
2.	वही	पृ. 64
3.	वही	पृ. 65
4.	रंगमंच कला और दृष्टि - गोविन्द चातक	पृ. 58
5.	वही	पृ. 58
6.	रंगमंच सरोकार	पृ. 100
7.	वही	पृ. 42
8.	नाटक और रंगमंच - डॉ. सीताराम झा	पृ. 150